THE TIMES OF INDIA

Date: 28-03-26

Word, As It Were

Reading paper books & newspapers beats digital reading

TOI Editorial

For some time now,neuroscientists worldwide have been peering into brains to see how reading from books compares with screen reading, even if you are reading an e-book or e-paper. Researchers' conclusions are emphatic - reading better, and retaining more, are best done via the physical 'device': book, newspaper, periodical. Not their electronic cousins. Nor audiobooks. Word, as it were.

A Spanish university study analysed 25 studies (2000-2022), with 4.5L participants, to conclude that 10 hours of paper reading results in comprehension, six to eight times greater, than the same read on digital devices, for the same hours. So, what are the differences? E-readers don't engage the brain as much for attention, or retention. Paper reading leads to focus, while the mind wanders when reading from screens, or listening to audiobooks (multi-tasking is common). Reading on phones makes the brain work harder to process text. It's a double load the brain must track progress and make meaning. Paper readers recall structure/sequence better. Then, there's pace. Reading a physical book, or newspaper, you can pause, process at your own pace. With audiobooks, you can't speed up, or skip, or slow down, or re-read. The studies found digital natives struggle to make meaning out of their reading-screen readers even overestimated their understanding, found an Israeli study.

Think, what can be more high-tech than a paper book or newspaper? After all, they're handheld, mobile & wireless, invented centuries ago. And no charging required. It's simple. For meaning, pick up that paper reading material. Running out of shelves? Then, perhaps, it's better to read less, than read wrongly. That's the science - and you read it in this paper.

THE HINDU

Date: 28-03-26

A shade of dark

Reassessment of framework governing rights of transgender persons is due

Editorials

Bulldozing a Bill through Parliament and pushing it into law while ignoring the public outcry is verily a failure of the democratic process. The way the Transgender Persons (Protection of Rights) Amendment Bill, 2026 was rushed through both Houses of Parliament - amid Opposition walkouts and a storm of protests by the LGBTQIA+ communities - is condemnable. There was neither a transparent consultative process during the drafting of the Bill nor an informed discussion on its various aspects in Parliament. While the Bill was framed as an effort to correct past legislative shortcomings, there is an apprehension among stakeholders that it applied a heteronormative lens to a law intended to address complex issues of gender identity and human dignity. The Bill explicitly states: "The purpose was and is not to protect each and every class of persons with various gender identities, self-perceived sex/gender identities or gender fluidities..." This stance has left many within the community uncertain regarding their legal stand- ing. By moving away from broader definitions, the Bill has altered the legal landscape esta- blished by previous judicial precedents, such as the NALSA vs Union of India judgment. True, concerns have been raised about possible misuse of allowing self-perceived gender identities for those seeking to avail of public facilities and government benefits earmarked for transgender persons. But, in the attempt to do away with the contentious issue of self-identification of gender without certification by a medical board, it shifts the focus toward mandatory biological markers- including chromosomes, hormones, and genita- lia - or specific socio-cultural communities such as kinner, aravani, hijra or jogta.

Moreover, it is problematic to conflate the distinct concepts of sex and gender as done in the Bill. In effect, the Bill reduces the psychological and socio-cultural markers of gender to biological characteristics. Only those identifiably within the specified set of socio-cultural communities escape the stipulations of the legislation. Despite these concerns, the government has maintained that the Act reflects a "collective conscience", even as stakeholders suggest that the move limits existing protections instead of expanding them. Effective governance mandates engagement in consultation with all stakeholders. To address the current protests by members of the LGBTQIA+ communities, the government must return to a collaborative approach and move toward a rights-based law developed through a transparent consultative process. A new legislative proposal should aim to guarantee the equality of every citizen under the law, incorporate the perspectives of the LGBTQIA+ communities, and provide legal clarity while ensuring dignity for all. Otherwise, the government would appear to have created new problems in solving an old one.

दैनिक भास्कर

Date: 28-03-26

ईरान युद्ध का खामियाजा पूरी दुनिया झेल रही है

संपादकीय

वियतनाम युद्ध पर बोलते हुए अमेरिकी सीनेट की विदेश नीति पर समिति के अध्यक्ष फुलब्राइट ने 1966 में 'बलवान का घमंड' शीर्षक से एक मशहूर भाषण दिया था। इस भाषण के बाद अमेरिका ही नहीं, पूरे विश्व की विदेश नीति में मौलिक बदलाव आए। इसमें सीनेटर ने बताया कि बलशाली साम्राज्य अपने को नैतिक रूप से श्रेष्ठ मान लेता है और दुनिया को अपनी सोच के हिसाब से बदलने को मजबूर करता है। 60 साल बाद एक बार फिर अमेरिका वही गलतियां दोहराते हुए ईरान के साथ युद्धरत है। वियतनाम युद्ध के बाद के विश्लेषण में पता चला था कि अमेरिका ने वहां की जनता की राष्ट्रीयता की भावना को कमतर आंका था। जिस जनता को बचाने के लिए वियतनामी सत्ता से युद्ध का तर्क अमेरिका ने दिया था, उसी जनता को सर्वाधिक क्षति उस युद्ध से हुई। लेकिन इस बार पहली बार ऐसा हो रहा है कि ईरान युद्ध का खामियाजा पूरी दुनिया झेल रही है। यह बलशाली होने का अहंकार ही तो है कि वेनेजुएला के राष्ट्राध्यक्ष को उनके घर से उठाकर अमेरिकी जेल में डाल दिया जाता है और गलत खुफिया जानकारी के कारण ईरान के एक स्कूल पर बम गिराने से जब 200 बच्चे मारे जाते हैं तो इस पर अफसोस भी नहीं जताया जाता । युद्ध से पहले संसद से अनुमति तक नहीं ली जाती और कैबिनेट की बैठक भी युद्ध के आदेश के 28 दिन बाद की जाती है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 28-03-26

तेल संकट की आपदा में छिपा एक अवसर

ए के भट्टाचार्य

तेल संकट भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए कितना गंभीर है ? भारत को मौजूदा हालात से क्या सबक लेना चाहिए, जब कीमतों में बढ़ोतरी और तेल-गैस की किल्लत ने आर्थिक गतिविधियों को प्रभावित करना शुरू कर दिया है?

सबसे पहले यह समझना जरूरी है कि भारत की पेट्रोलियम कंपनियों तथा सरकार की वित्तीय स्थिति पर तेल संकट का असर मापने के लिए ब्रेंट क्रूड ऑयल की कीमत सही पैमाना नहीं है। इसके लिए कच्चे तेल की भारतीय बास्केट के दाम पर नजर रखना जरूरी है भारतीय रिफाइनरों और सरकार के बाहरी खाते पर तेल संकट का असर इसी से आंका जा सकता है। 19 मार्च तक भारतीय बास्केट की कीमत लगभग 150 डॉलर प्रति बैरल थी। उसी दिन ब्रेंट क्रूड ऑयल की कीमत 105 से 108 डॉलर प्रति बैरल के बीच झूल रही थी।

"भारतीय बास्केट की कीमत विभिन्न प्रकार के कच्चे तेल के मिश्रण से निकाली जाती है, जिसमें ओमान और दुबई तेल के सावर ग्रेड के साथ स्वीट ग्रेड ब्रेंट शामिल होता है। भारतीय कंपनियों की रिफाइनिंग में सावर ग्रेड का अनुपात 79 होता है और ब्रेंट क्रूड का 211 इस अनुपात वाले मिश्रण की वजह से ही भारतीय बास्केट और ब्रेंट क्रूड के दामों में इतना अंतर दिखता है। इस अंतर की अनदेखी नहीं की जा सकती है क्योंकि इसी से पता चलता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था किस किस्म के संकट से जूझ रही है।

इसीलिए भारतीय रिफाइनरों के कामकाज पर कच्चे तेल के ऊंचे दामों का असर अभी पूरी तरह दिख ही नहीं पाया है। कुछ ही दिन में समाप्त होने जा रहे चालू वित्त वर्ष में भारतीय बास्केट के कच्चे तेल की औसत कीमत लगभग 71 डॉलर प्रति बैरल रही। यह 2024-25 में भारतीय बास्केट की 78.56 डॉलर प्रति बैरल औसत कीमत से कुछ कम ही है। इसलिए कच्चे तेल के दाम के मामले में भारतीय तेल कंपनियों और भारतीय अर्थव्यवस्था पश्चिम एशियाई युद्ध का असर मौजूदा वित्त वर्ष में पूरी तरह नहीं दिख सकेगा। लेकिन आने वाले वित्त वर्ष में इसका असर महसूस होगा क्योंकि संकट के शीघ्र समाधान के कोई संकेत नहीं हैं।

नरेंद्र मोदी सरकार अपने कार्यकाल (2014 से अब तक) में तेल कीमतों के मामले में अपेक्षाकृत भाग्यशाली रही है। मनमोहन सिंह सरकार के अंतिम तीन वर्षों में कच्चे तेल के भारतीय बास्केट की औसत सालाना कीमत 105 से 112 डॉलर प्रति बैरल के बीच रही। मगर मोदी सरकार के 12 वर्षों में औसत सालाना कीमत 46 से 93 डॉलर प्रति बैरल के बीच रही है। इनमें भी सात वर्षों में तो तेल की औसत कीमत उनसे पिछले वर्षों की तुलना में कम ही रही। भारतीय रिफाइनर जो कच्चा तेल इस्तेमाल करते हैं, उनकी औसत सालाना कीमत पिछले दो वर्ष में 11 प्रतिशत और 5 प्रतिशत से अधिक गिर गई।

मगर कच्चे तेल के कम दाम वाले इन 12 वर्षों पर नजर डालें तो परेशान करने वाली एक बात दिखती है। क्या मोदी सरकार ने इस अवधि का इस्तेमाल पेट्रोलियम के आयात पर देश की बढ़ती निर्भरता की समस्या दूर करने में किया? देश ने अपनी नवीकरणीय ऊर्जा उत्पादन क्षमता बढ़ाने के मामले में अच्छा काम किया है मगर क्या सरकार को आयात पर निर्भरता कम करने तथा देश के भीतर पेट्रोलियम प्रोसेसिंग बढ़ाने पर भी इतना ही ध्यान देना चाहिए था?

सरकार ने बीते कुछ वर्षों में तेल आयात पर देश की निर्भरता कम करने के लिए कई नीतिगत घोषणाएं और योजनाएं पेश की हैं। परंतु हकीकत कुछ और है। वर्ष 2014 से भारत के भीतर कच्चे तेल का उत्पादन हर वर्ष घटता जा रहा है। घरेलू उत्पादन 2014-15 में 3.59 करोड़ टन था, जो 2024-25 में घटकर 2.65 करोड़ टन रह गया। इस वित्त वर्ष में अप्रैल 2025 से फरवरी 2026 तक देश में 2.38 करोड़ टन कच्चे तेल का उत्पादन हुआ, जिससे पता चलता है कि इस वर्ष भी उत्पादन में गिरावट ही होगी। ध्यान देने की बात है कि इन वर्षों में भारतीय अर्थव्यवस्था तेजी से बढ़ रही थी और कच्चे तेल की मांग भी बढ़ रही थी। कच्चे तेल का आयात 2014-15 के 18.9 करोड़ टन बढ़कर 2024-25 में 24.3 करोड़ टून हो गया। इस तरह आयातित कच्चे तेल पर निर्भरता 2014- 15 में 84 प्रतिशत थी, जो बढ़कर पिछले वर्ष 90 प्रतिशत तक हो गई।

साफ है कि सरकार की लागत वसूलने वाली नई उत्खनन लाइसेंसिंग नीति (एनईएलपी) के बजाय 2016 में कथित निवेशक - अनुकूल हाइड्रोकार्बन उत्खनन और लाइसेंसिंग नीति (एचईएलपी) अपनाने की नीतिगत पहलें अब तक अपेक्षित परिणाम देने में विफल रही हैं। भारत का घरेलू कच्चे तेल का उत्पादन लगातार गिरता रहा है और नई उत्खनन नीति से ज्यादा फायदा भी नहीं मिला है।

पेट्रोलियम उत्पादों की स्थिति क्या है? भारतीय तेल रिफाइनिंग और विपणन कंपनियों ने घरेलू उत्पादन बढ़ाया है, लेकिन आयात में कमी करने के लिए यह काफी नहीं रहा है। वर्ष 2014-15 भारत ने 2.1 करोड़ टन पेट्रोलियम उत्पाद आयात किए थे, जो आंकड़ा 2024-25 में दोगुने से भी ज्यादा होकर 5.1 करोड़ टन पर पहुंच गया। तरलीकृत पेट्रोलियम गैस (एलपीजी) या रसोई गैस का देश के भीतर उत्पादन बहुत धीमी गति से बढ़ा है। वर्ष 2014-15 में 98.4 लाख टन से यह 2024-25 में 1.28 करोड़ टन तक ही पहुंच पाया है मगर इसी दौरान एलपीजी की मांग 1.8 करोड़ टन से बढ़कर 3.3 करोड़ टन पार कर गई है। इस तरह पहले एलपीजी की 46 प्रतिशत मांग आयात से पूरी होती थी मगर अब 62 प्रतिशत एलपीजी आयात से मिलती है। स्पष्ट है कि सरकार ने घरेलू एलपीजी उत्पादन बढ़ाने के लिए आवश्यक कदम नहीं उठाए, जबकि ग्रामीण घरों में एलपीजी उपयोग को बढ़ावा देने की योजनाएं शुरू कर दी गई, जिनसे इसकी मांग बहुत बढ़ गई।

कच्चे तेल और पेट्रोलियम उत्पादों में आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देने के लिए प्रभावी नीतियां शायद इसलिए नहीं बनीं क्योंकि अंतरराष्ट्रीय दाम बहुत कम बढ़े। कच्चे तेल के अपेक्षाकृत कम अंतरराष्ट्रीय मूल्य के कारण इसके आयात पर भारत का खर्च 2014-15 से 2024-25 के साल में सालाना औसतन 2.16 प्रतिशत की दर से बढ़ा। पेट्रोलियम उत्पादों के आयात का खर्च थोड़ा तेज औसतन 9.5 प्रतिशत सालाना रफ्तार से बढ़ा मगर इस वृद्धि कारण न तो तेल कंपनियों और न ही सरकार ने घरेलू पेट्रोलियम उत्पादन बढ़ाने के लिए कदम उठाए ।

अगर सरकार देश के भीतर कच्चे तेल का उत्पादन अच्छा खासा बढ़ाने की खातिर तेल उत्खनन नीतियों में सुधार की विस्तृत कार्य योजना पेश नहीं करती है तो उसके सामने खड़ा वर्तमान तेल संकट खोया हुआ मौका ही साबित होगा। अगर सरकार सभी पेट्रोलियम रिफाइनिंग और विपणन कंपनियों को एलपीजी सहित पेट्रोलियम उत्पादों का उत्पादन और भी बड़े पैमाने पर करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकी तो यह और भी चिंता की बात

होगी। सरकार को इन उत्पादों की मूल्य निर्धारण नीतियों की भी समीक्षा करनी चाहिए ताकि कंपनियों को अधिक उत्पादन करने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन मिले और इसके लिए न तो उनका मार्जिन कम हो और न ही सरकारी सब्सिडी पर उनकी निर्भरता बढ़े।

जनसत्ता

Date: 28-03-26

दहेज का दंश

संपादकीय

इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि देश में सख्त कानूनी प्रावधानों के बावजूद दहेज के लिए विवाहिता की हत्या या उसे आत्महत्या के लिए मजबूर करने की घटनाओं का सिलसिला थम नहीं रहा है। इक्कीसवीं सदी में शिक्षा और विज्ञान के क्षेत्र में नए आयाम हासिल करने के बावजूद इस मामले में समाज के एक हिस्से की रूढ़िवादी मानसिकता नहीं बदली है। यही नहीं, कानूनों को सख्ती से लागू करने के मामले में भी विभिन्न स्तरों पर लापरवाही देखी जाती है, जिस कारण इस कुप्रथा की जड़ें नष्ट होने के बजाय गहरी होती जा रही हैं। इसका दंश महिलाओं के खिलाफ हिंसा और उत्पीड़न तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह उनकी जान पर भी भारी पड़ रहा है। सर्वोच्च न्यायालय ने भी अपने एक फैसले में इस पर गहरी चिंता जताई और दहेज के मामलों में महिलाओं की मौत की घटनाओं को समाज पर गहरा धब्बा करार दिया। शीर्ष अदालत ने कहा कि इस सामाजिक कुरीति के कारण आज भी हजारों महिलाएं बेमौत मारी जाती हैं।

सरकारी स्तर पर देश में दहेज प्रथा पर अंकुश लगाने के बड़े-बड़े दावे किए जाते हैं, लेकिन आंकड़ों से पता चलता है कि इसकी वास्तविक तस्वीर बेहद चिंताजनक है। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो की एक रपट के मुताबिक, वर्ष 2023 में दहेज संबंधी अपराधों के तहत दर्ज मामलों में चौदह फीसद की बढ़ोतरी देखी गई है। देश भर में इससे संबंधित पंद्रह हजार से अधिक मामले दर्ज किए गए, जिनमें छह हजार से ज्यादा महिलाओं की मौत हो गई। जबकि वर्ष 2022 और 2021 में यह संख्या क्रमशः 13,479 और 13,568 थी। सवाल है कि इस तरह की घटनाओं पर रोक क्यों नहीं लग पा रही है? क्या वजह है कि दहेज प्रथा को बढ़ावा देने वालों में कानून का जरा भी खौफ नहीं है। इसके लिए निश्चित तौर पर कानून प्रवर्तन एजेंसियों का ढुलमुल रवैया भी जिम्मेदार है। पुलिस की लापरवाही की वजह से कई बार दहेज से संबंधित मामलों के आरोपी अदालत में सबूतों के अभाव में बरी हो जाते हैं। कई दफा पीड़ित महिलाओं को शिकायत दर्ज कराने में खासी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है, जो पुलिस की कार्यप्रणाली पर गंभीर सवाल खड़े करता है।

दहेज प्रथा केवल सामाजिक बुराई ही नहीं, बल्कि मानवाधिकारों और गरिमा का भी गंभीर उल्लंघन है। मगर कई मामलों में पीड़ित महिलाओं के परिजन कानूनी जागरूकता की कमी और सामाजिक दबाव के कारण पुलिस में शिकायत तक दर्ज नहीं करा पाते। ऐसे में इस बात पर गहराई से विचार करने की जरूरत है कि क्या भौतिक वस्तुएं, पैसा और झूठी शान किसी महिला की जान से ज्यादा मूल्यवान है। इस बात पर भी गौर करना जरूरी है कि दहेज उत्पीड़न या हत्या के मामलों की शिकायत दर्ज करने की प्रक्रिया को आसान बनाया जाए और ऐसे मामलों को गंभीरता से लेकर उनकी गहन जांच की जाए। इस तरह के मामलों की सुनवाई त्वरित अदालतों में की जानी चाहिए, ताकि पीड़ित पक्ष को जल्द न्याय मिल सके। इसके साथ ही सामाजिक स्तर पर भी जागरूकता और अन्य पहलों को प्रोत्साहित करने की जरूरत है, जैसे महिलाओं को शिक्षित और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाना तथा बेटियों को लेकर समानता आधारित दृष्टिकोण को धरातल पर सही मायने में अमल में लाना सच यह है कि कानूनी सख्ती के समांतर जब तक समाज की सोच नहीं बदलेगी, तब तक किसी भी कुरीति को पूरी तरह खत्म कर पाना संभव नहीं है।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 28-03-26

नई दिशा में नेपाल

संपादकीय

यह पूरे दक्षिण एशिया के लिए एक महत्वपूर्ण घटना है कि पड़ोसी देश नेपाल की कमान उसके सबसे युवा प्रधानमंत्री वालेन शाह ने संभाल ली है। इसी महीने की शुरुआत में देश में हुए चुनावों में भारी मतों से जीतने के बाद 35 वर्षीय वालेन शाह ने अपने देश और देशवासियों के नाम पर पद की शपथ ली है। पेशे से रैपर गायक रहे बालेन शाह साल 2022 में काठमांडू के मेयर नियुक्त हुए थे और अब उनकी राष्ट्रीय स्वतंत्र पार्टी को लगभग दो-तिहाई बहुमत मिलने के बाद उनके हाथों में नेपाल का भविष्य है। अपने देश को लेकर उनके मन में बहुत प्रेम और आस्था है, जिसकी झलक उनके गीतों में भी मिलती रही है। गौर करने की बात है, जब बीते वर्ष सितंबर में नेपाल के गुवा विद्रोह किया, तब बालेन शाह के गीत उनकी प्रेरणा के स्रोत बन गए थे। हिंसक, लेकिन सफल विद्रोह के चलते भाई-भतीजावाद और भ्रष्टाचार से ग्रस्त नेपाल सरकार का तख्तापलट हो गया था। युवाओं ने जिन चंद ईमानदार हस्तियों को देश का नेतृत्व करने योग्य माना, उनमें वालेन शाह सबसे आगे थे और अब पूरा देश उन्हें प्रधानमंत्री के रूप में कामयाव देखना चाहता है।

नेपाल को विकास के पथ पर आगे बढ़ाने का काम बहुत जरूरी है और यह भारत के भी अनुकूल है। एक समृद्ध और विकास की ओर बढ़ते पड़ोसी देश से भारत के विकास को ही बल मिलेगा। अभी इस देश से प्रतिदिन करीब 1,500 लोग रोजगार के लिए बाहर जाने को मजबूर हैं। इन लोगों को देश में ही रोजगार देना बहुत बड़ी चुनौती है। वालेन शाह अगर इस मोर्चे पर आधे भी कामयाब होते हैं, तो नेपाल गरीबी और अभाव के दलदल से बाहर निकलने लगेगा। वहां के लोगों की शिकायतों पर अगर गौर करें तो नेपाल को उसके नेताओं ने बहुत लूटा है या लूटने दिया है। तीन करोड़ लोगों के इस देश में राजनीतिक अस्थिरता एक अभिशाप रही है। यह त्रासद तथ्य है, वहां 1990 से अब तक 32 सरकारें सत्ता में आई है और किसी भी सरकार ने अपना पांच साल का कार्यकाल पूरा नहीं किया है।

बालेन शाह ने अगर प्रधानमंत्री के रूप में बेहतर प्रदर्शन कर दिखाया, तो पहले से स्थापित और सत्ता में रही पार्टियों के लिए अपनी बची हुई जमीन बचाना भी बहुत मुश्किल हो जाएगा। नए प्रधानमंत्री के अच्छे निर्णय देश को नई दिशा और दशा की ओर ले जाएंगे।

यहां यह भी ध्यान देने की बात है, राजशाही के बाद नेपाल में बनी तमाम सरकारें कमोवेश चीन के प्रभाव में रही हैं, जिसके संकेत भारत के साथ नेपाल के संबंधों में यदा-कदा दिखते रहे हैं। नेपाल का चीन के साथ होना गलत नहीं है, पर भारत के विरोध में खड़े हो जाना चिंता की बात है। यह एक हिंदू बहुल देश है, जिससे भारत से रोटी-बेटी के संबंध सदियों पुराने हैं। इस देश में लोग अपनी आस्था को छिपाते नहीं हैं और बालेन शाह ने भी ऐसा ही किया है। शपथ के लिए रामनवमी का दिन चुनना, अंक ज्योतिष के हिसाब से शपथ ग्रहण और प्रधानमंत्री कार्यालय में प्रवेश करने की बहुत चर्चा है। नेपाल के लोगों में खुशी का संचार है, जिसमें आगे और वृद्धि की आशा करना गलत नहीं होगा। बालेनः ने इंजीनियरिंग की पढ़ाई भारत में की है और उन्हें आगे भी भारत से सकारात्मक चीजें सीखने की जरूरत पड़ेगी। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने उन्हें उचित ही शुभकामनाएं दी हैं। चुनाव बाद बांग्लादेश की नई सरकार भी देश की नीतियों को दुरुस्त कर रही है। ऐसे में, भारत में भी सरकार और लोगों को बालेन शाह से बड़ी उम्मीदें हैं। उन्होंने जो स्वप्न दिखाएं हैं, उन्हें साकार करने का समय आ गया है।

Date: 28-03-26

सिर्फ डिग्री के पीछे न भागें युवा

अजित रानाडे, (अर्थशास्त्री व सीनियर फेलो, तक्षशिला इंस्टीट्यूशन)

अजीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी की हालिया प्रकाशित 'स्टेट ऑफ वर्किंग इंडिया रिपोर्ट 2026' में एक चौंकाने वाला पहलू सामने आया है। इस रिपोर्ट के मुताबिक, साल 2011 में देश का एक युवा स्नातक हर महीने लगभग 21,800 रुपये कमाता था, वहीं एक गैर- स्नातक की कमाई लगभग 9,000 रुपये थी, जबकि वर्ष 2023 तक आते-आते एक स्नातक की कमाई घटकर 19,573 रुपये रह गई, वहीं गैर-स्नातक की कमाई बढ़कर 10,507 रुपये हो गई। पिछले 12 वर्षों में स्नातक पास लोगों की कमाई आमतौर पर गिरी है। बढ़ी हुई महंगाई को इसमें समायोजित करें, तो उनकी कमाई खत्म हो गई है।

इस रिपोर्ट की सबसे खास बात यह है कि भारत के 20 से 29 वर्ष के 67 प्रतिशत युवा स्नातक बेरोजगार हैं। साल 2004 में यह आंकड़ा सिर्फ 32 प्रतिशत था। दूसरी ओर, युवा स्नातकों की तादाद 2004 के 10 प्रतिशत से बढ़कर 2023 में करीब 28 प्रतिशत हो गई है। 'आईएलओ आईएचडी इंडिया एम्प्लॉयमेंट रिपोर्ट 2024' ने भी खुलासा किया था कि युवा स्नातकों में बेरोजगारी की दर 29 प्रतिशत है, जबकि अनपढ़ नौजवानों में यह दर सिर्फ तीन प्रतिशत पाई गई। स्नातक युवाओं में बढ़ती बेरोजगारी की यह प्रवृत्ति पिछले एक दशक से पता चलने लगी है।

इसके कारण श्रम बाजार की मांग और आपूर्ति में निहित हैं। आपूर्ति पक्ष को देखें, तो पढ़े-लिखे युवा अब अपनी योग्यता के अनुरूप नौकरी का इंतजार करते हैं। दरअसल, पिछले दो दशकों में सभी आय वर्ग के परिवारों की आमदनी बढ़ी है। कमाई बढ़ने से अब कम आय वाले परिवार भी अपनी संतानों के नौकरी पाने के इंतजार को बर्दाश्त कर सकते हैं। इससे तो यही साबित होता है कि लोग जितने ज्यादा शिक्षित होंगे, बेरोजगारी दर उतनी ही अधिक होगी !

हालांकि, यह इंतजार एक अलग रूप ले लेता है। बहुत सारे स्नातक सरकारी प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी करने लग जाते हैं। कई राज्य सरकारें तो लोक सेवा आयोग की प्रवेश परीक्षाओं की तैयारी के लिए रियायत भी देती हैं। साल 2013 से 2019 तक के तमिलनाडु लोक सेवा आयोग के आंकड़ों का विस्तृत अध्ययन दर्शाता है कि साल 2018-2019 में, तमिलनाडु लोक सेवा आयोग के समूह - 4 की एक ही भर्ती के लिए 1.37 करोड़ आवेदन आए। उस समय तमिलनाडु के लगभग 80 प्रतिशत बेरोजगार युवा इस परीक्षा की तैयारी कर रहे थे। इन परीक्षाओं की तैयारी के लिए युवा निजी रोजगार को छोड़ दे रहे हैं। यह प्रवृत्ति सभी राज्यों में है।

सवाल है कि सरकारी नौकरियों के प्रति इतनी दीवानगी आखिर क्यों है? इसके कारण हमारे रोजगार ढांचे में निहित हैं। एक सरकारी पद पा जाने पर पक्की नौकरी, निजी क्षेत्र की तुलना में ज्यादा वेतन (उदाहरण के लिए एक सरकारी ड्राइवर निजी ड्राइवर से चार गुना ज्यादा वेतन पाता है), स्वास्थ्य बीमा और पेंशन लाभ के साथ निचले स्तर की सरकारी नौकरी से भी सामाजिक रुतबा बन जाता है। लड़कियों के मामले में तो सरकारी

नौकरीशुदा के लिए भावी ससुराल पक्ष से तत्काल सहमति मिलने की संभावना बढ़ जाती है। इन्हीं कारणों से युवा सरकारी नौकरी के लिए बार-बार कोशिश करते हैं, मगर निजी नौकरी की ओर नहीं जाते।

मांग के पहलू पर स्थिति ज्यादा गंभीर है। साल 2012 से 2019 के बीच देश की जीडीपी (सकल घरेलू उत्पाद) सालाना 6.7 प्रतिशत की दर से बढ़ी, लेकिन रोजगार सृजन में केवल 0.1 प्रतिशत की वृद्धि हुई। बड़े पैमाने पर रोजगार सृजन करने वाले विनिर्माण क्षेत्र की कार्यबल में हिस्सेदारी दो दशकों से 12-14 प्रतिशत पर अटकी हुई है, जबकि उत्पादन में सालाना 7.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। साल 2004 से 2023 के बीच भारत में सालाना 50 लाख स्नातक शिक्षण संस्थानों से निकले, जिनमें से हर साल केवल 28 लाख को रोजगार मिल पाया। इनमें से केवल 17 लाख को ही सरकारी नौकरियां मिलीं। भारत बड़े पैमाने पर उस 'निर्वात आधारित और श्रम-प्रधान' विकास के रास्ते से चूक गया, जिसने कभी पूर्वी एशिया का कायाकल्प किया था।

साल 2021-22 से 2023-24 के बीच सृजित हुए 8.3 करोड़ काम के अवसरों में से लगभग आधे कृषि क्षेत्र में पैदा हुए थे, जिनमें आय कम थी, जिनकी उत्पादकता सीमित थी और करियर के लिहाज से आगे बढ़ने के खास अवसर न थे। आर्थिक सर्वेक्षण 2024- 25 में यह बताया गया है कि केवल 8.25 प्रतिशत स्नातक ही ऐसे पद पर कार्यरत हैं, जो उनकी योग्यता के अनुरूप है। लगभग आधे स्नातक प्राथमिक या अर्द्ध- कुशल श्रेणी के कार्यों में लगे हुए हैं। ये ऐसी नौकरियां नहीं हैं, जो 'करके सीखने, उत्पादकता या कौशल विकास के अवसर देती हों। ये ऐसी बंद गलियां हैं, जिनके लिए केवल डिग्री की आवश्यकता होती है।

हमारे श्रम कानून इस समस्या को और जटिल बना देते हैं। नियोक्ता स्थायी कर्मचारियों को नियुक्त करने से हिचकिचाते हैं, क्योंकि उन्हें वे आसानी से निकाल नहीं सकते। इसलिए उन्होंने संविदा के जरिये नौकरी सुरक्षा के कठोर कानूनों को दरकिनार कर दिया है। ऑटोमोबाइल क्षेत्र ने इसकी शुरुआत की, जिसका अनुसरण अन्य क्षेत्रों ने किया। इसके विपरीत, अमेरिका में चार प्रतिशत बेरोजगारी दर के साथ-साथ नौकरियों में जबरदस्त गतिशीलता भी है। यहां करीब 20 प्रतिशत कर्मचारी लाभ और अनुभव के साथ साल में कई नौकरियां बदलते हैं।

इस समस्या से पार पाने के लिए नौकरी खोजने में कठिनाई और योग्यता के अनुकूल काम न मिलने की समस्या को कम करने की नीति अपनानी होगी। छोटे- छोटे स्तर के प्रशिक्षण कार्यक्रम मांग व आपूर्ति बाजार को राहत दे सकते हैं। साथ ही रोजगार के लिए डिग्री के बजाय नियोक्ता के अनुकूल कौशल विकास अधिक सहायक होगा। श्रम बाजार की बेहतर जानकारी और आसानी से जॉब खोजने वाले पोर्टल आ जाएं, तो इस समस्या को सुलझाने में मददगार बन सकते हैं।

एक अन्य प्राथमिकता यह हो सकती है कि सरकारी नौकरियों में अत्यधिक सुविधाएं कम कर दी जाएं। इसके लिए कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि, संविदा नियुक्ति की शुरुआत और आउटसोर्सिंग में वृद्धि करनी होगी। स्थिति यह है कि हमारे स्नातक सरकारी नौकरी की आस में वर्षों का वक्त बर्बाद कर देते हैं, जबकि निजी क्षेत्र

में रोजगार सृजन कछुआ चाल से हो रहा है। और कल्याणकारी नीतियों के लिए धन की कमी पड़ रही है। ऐसे में, हमें इस जटिल समस्या का कुछ न कुछ समाधान निकालना होगा।